National Journal of Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2015; 1(1): 15-23
© 2015 NJHSR
www.sanskritarticle.com
Received: 23-07-2015
Accepted: 05-08-2015

डॉ. आदित्य आंगिरस
Vishveshvaranand Vishwa Bandhu Institute of Sanskrit and Indological Studies
PanjabUniversity Hoshiarpur-146001, Punjab.

Correspondence:
डॉ. आदित्य आंगिरस
Vishveshvaranand Vishwa Bandhu Institute of Sanskrit and Indological Studies
PanjabUniversity Hoshiarpur-146001, Punjab.

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी रचित साहित्यानुसार दलित का अर्थ

डॉ. आदित्य आंगिरस

द्विवेदी साहित्य में दलित संचेतना के विषय में बात करने से पहले दलित द्विवेदी साहित्य में दलित संचेतना संचेतना के विषय में बात करना एक आवश्यकता बन जाती है कि वास्तव में दलित संचेतना क्या है और दलित संचेतना का वास्तविक अर्थ क्या है। दलित शब्द की व्युत्पत्ति "दल" धातु में "क्त" प्रत्यय लगा कर मानी गई है।[1] कोश गतानुसार दल् शब्द का अर्थ है "फ़ट जाना, टुकड़े होना" आदि।[2] उत्तररामचरित में "दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा न तु भिद्यते"[3] कह कर बात हमारे सामने आती है। "दल" शब्द का दूसरे प्रमुख अर्थ प्रसार करनाए विकसित करना,खिलना ;पुष्प की भान्तिद्ध आदि भी है . स्वछन्दं दलदरविन्द ते मरन्द विन्दन्तो विदधतु गुञ्जितं मिलिन्दाः,[4] । वहीं दूसरी ओर बृहत हिन्दी कोशगतानुसार दलित शब्द का प्रथम अर्थ "रौंदा" कुचला, दबाया हुआ अथवा पदाक्रान्त"[5] । इस शब्द का दूसरा अर्थ "वर्ग विषेश. हिन्दुओं में वे शूद्र जिन्हें अन्य जातियों के समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं"[6]।

आधुनिक संदर्भों में दलित शब्द का अर्थ इन्हीं अर्थों में लिया जाता है। चेतना शब्द का प्रयोग सजीव, जीवित, जीवधारी, सचेत, संवेदनशील के अर्थों में है अर्थात सचेत प्राणी मनुष्य, आत्मा, परमात्मा आदि के संदर्भों में है।[7] अतःयहां यह कहना उचित होगा कि उपरोक्तानुसार दलित चेतना का संभव अर्थ है ऐसा सचेत प्राणी अथवा मनुष्य वर्ग जो अपने मूलभूत अधिकारों से अनुस्यूत नहीं हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि दलित का अर्थ है "वर्ण आश्रम व्यवस्था का शूद्र वर्ण अथवा तथाकथित मनुवादी या ब्राह्मणवादी व्यवस्था में अस्पृश्यताए दमन और दलन का शिकार निम्न वर्ण"[8]।

पूर्व कथित अवधारणा के अनुसार यदि शूद्र का दार्शनिक व्याख्या को यदि हम ध्यान से देखें तो शूद्र शब्द की व्युत्पति का आधार "शुच्" और "द्रव" धातुओं से माना जा सकता है जिस में शुच धातु का अर्थ शोक परक होता है और द्रव धातु का अर्थ द्रवण अर्थ परक हो सकता है अर्थात ऐसा व्यक्ति जो शोक का विनाश करने में सदा उद्यत रहे। इस के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि समस्त ब्राह्मण वर्ग निश्चित रूप से सर्वश्रेष्ठ शूद्र है क्योंकि वह अपने ज्ञान के द्वारा संपूर्ण मानव जाति के शोक एवं संत्रास को भगाने में उद्यत रहा है। इसी प्रकार यदि स्त्री जाति को भी यदि हम दलित व्यवस्था में शामिल करतें हैं तो हमारे सामने समस्त स्त्री जाति की सम्माननीया स्त्रियां वैदिक.उपनिषद साहित्य में वर्णित मैत्रेयी आदि और समस्त पौराणिक साहित्य में मदालसा आदि स्त्रियां आती हैं जोए उस समय अपनी सोच और समझ के अनुसार चल कर अपने आत्म.कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहीं थीं।

मध्यकालीन धर्म साधना में देखें तो कबीर, नामदेव रविदास का नाम आज के समाज में पूर्ण श्रद्धा के साथ लिया जाता है। मध्यकालीन सन्त समाज ने भारतीय समाज की मूल पीडा को समझा और अपने वचन और कर्म द्वारा उसे दूर करने का प्रयास किया। आधुनिक काल में भीऐसे कई व्यक्ति हैं जिन्हें आज के समाज में श्रद्धापूर्वक देखा वस्तुतः मनु ने भारतीय समाज के लिये जो स्वप्न देखा था अथवा जिस मनुवादी व्यवस्था की बात आज हम समाज में करते हैं हम वहां यह भूल जाते हैं कि मनु ने जाति व्यवस्था में ब्राह्मण के विभिन्न प्रकार बताये हैं एवं आज जिस ब्राह्मणवादी व्यवस्था की बात करते हैं निश्चित रूप में, हम मनु की उस वर्ण व्यवस्था को समझ नहीं पाये हैं जो मनु का अभिप्रेत था। हम निश्चित रूप से जाति.ब्राह्मण व्यवस्था की बात करतें हैं अर्थात जाति के अनुसार व्यक्ति उच्चकुल में पैदा हो कर यदि वह वणिक वृत्ति को

अपना जीवन आधार बनाता है तो वह निश्चित ही ब्राह्मण नहीं है क्योंकि जाति व्यवस्था के आधार में तीन बातों को प्रमुखता दी गई थी जिसमें विद्याए कर्म और योनि की व्यवस्था थी। अतरू योनिगत ब्राह्मणत्व सही ब्राह्मणत्व नहीं है। ब्राह्मण के संबंध में महाभारत का यह कथन द्रष्टव्य है.

चतुर्वेदोऽपि दुर्वतःस शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः

अर्थात जो व्यक्ति वेदों के अनुसार आचरण नहीं करता वह चाहे फ़िर ब्राह्मण ही क्यों न हो वह शूद्र से भी निम्न है क्योंकि ब्राह्मण का धर्म सदा से ही अग्निहोत्र अर्थात ज्ञान की इच्छा रखने वालाए दमित इच्छा एवं शान्त प्रकृति का है। ब्राह्मण वस्तुतरू वह हो सकता है जिस व्यक्ति ने उस सत्य का अनुभव और साक्षात्कार किया और लगातार उस तत्त्व चिन्तन में लीन है। ब्राह्मणत्व का अर्थ चेतना के उत्तरोत्तर विकास का नाम है वह अपने ज्ञान के माध्यम से संपूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर अपने अनुभव को मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये नियोजित करता है। भगवान बुद्ध ब्राह्मण विषयक अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुऐ कहते हैं कि ब्राह्मण न तो जटा से होता है, न गोत्र से और न जन्म से। वास्तविक ब्राह्मण वही है जिसमें सत्य है, धर्म है और जो पवित्र है, जो अकिंचन है, किसी तरह का परिग्रह नहीं रखता, जो त्यागी है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। कमल के पत्ते पर जिस तरह पानी अलिप्त रहता है या आरे की नोक पर सरसों का दाना, उसी तरह जो आदमी भोगों से अलिप्त रहता है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। चर या अचर, किसी प्राणी को जो दंड नहीं देता, न किसी को मारता है, न किसी को मारने की प्रेरणा देता है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। ब्राह्मण मैं उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही है, जिसने समस्त बंधन काटकर फेंक दिए हैं, जो भय.विमुक्त हो गया है और संग तथा आसक्ति से विरत है। जो बिना चित्त बिगाड़े, हनन और बंधन को सहन करता है, क्षमा.बल ही जिसका सेनानी है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ। जो अक्रोधी है, व्रती है, शीलवान है, बहुश्रुत है, संयमी और अंतिम शरीर वाला है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ। कमल के पत्ते पर जल और आरे की नोक पर सरसों की तरह जो विषय.भोगों में लिप्त नहीं होता, मैं उसे ही ब्राह्मण कहता हूँ। जो चर.अचर सभी प्राणियों में प्रहार.विरत हो, जो न मारता है और न मारने की प्रेरणा ही देता है,उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। जो ऐसी अकर्कश, आदरयुक्त और सत्यवाणी बोलता हो कि जिससे किसी को जरा भी पीड़ा नहीं पहुँचती हो, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ। बड़ी हो चाहे छोटी, मोटी हो या पतली, शुभ हो या अशुभ, जो संसार में बिना दी हुई किसी भी चीज को नहीं लेता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। जिसने यहाँ पुण्य और पाप दोनों की ही आसक्ति छोड़ दी है और जो शोकरहित, निर्मल और परिशुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

मानुष भोगों का लाभ छोड़ दिव्य भोगों के लाभ को भी जिसने लात मार दी है, किसी लाभ.लोभ में जो आसक्त नहीं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। राग और घृणा का जिसने त्याग कर दिया है, जिसका स्वभाव शीतल है और जो क्लेशरहित है, ऐसे सर्वलोक.विजयी वीर पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। जिसके पूर्व, पश्चात और मध्य में कुछ नहीं है और जो पूर्णतया परिग्रह.रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ । जो ध्यानी, निर्मल, स्थिर, कृतकृत्य और आस्रव (चित्तमल) से रहित है, जिसने सत्य को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। जो मन, वचन और काया से कोई पाप नहीं करता अर्थात इन तीनों पर जिसका संयम है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। जिसने घृणा का क्षय कर दिया है, जो भली.भाँति जानकर अकथ पद का कहने वाला है और जिसने अगाध अमृत प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ । जो पूर्वजन्म को जानता है, सुगति और अगति को देखता है और जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो गया है तथा जो अभिमान ;दिव्य ज्ञानद्ध परायण हैए उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। न जटा रखने से कोई ब्राह्मण होता है, न अमुक गोत्र से और न जन्म से ही। जिसने सत्य और धर्म का साक्षात्कार कर लिया, वही पवित्र है, वही ब्राह्मण है।जो गंभीर प्रज्ञावाला है, मेधावी है, मार्ग और अमार्ग का ज्ञाता है और जिसने सत्य पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ[10] । निरुक्त के अनुसार .“ ब्रह्म जानाति ब्राह्मण ” .. ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म (अंतिम सत्य, ईश्वर या परम ज्ञान) को जानता है। अतः ब्राह्मण का अर्थ है . "ईश्वर ज्ञाता” ।

किन्तु हिन्दू समाज में एतिहासिक स्थिति यह रही है कि पारंपरिक पुजारी तथा पंडित ही ब्राह्मण होते है। आज यदि हम अपने आस.पास की जाति व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि वैदिक काल की ब्राह्मणत्व के बारे में जो निश्चित अवधारणा रही है उसका वर्तमान कालमें निश्चित रूप से हस हुआ है। समसामयिक उपभोक्तावाद से ब्राह्मणत्व अछूता नहीं रह पाया है। कतिपय यह कहना अत्यन्त समीचीन होगा कि ब्राह्मणों में उपभोक्तावाद के बारे में जो रुझान हमारे सामने आता है वह निश्चित रूप से वैदिक अवधारणा के अनुरूप नहीं है क्यों कि ब्राह्मण ने अपने ब्रह्म.तेज को त्याग कर भौतिकता का आश्रय लेना आरंभ कर दिया है। कहने का अर्थ है कि अपने सत्य की पहचान करने की अपेक्षा

ब्राह्मण ने अपनी संसारिक इच्छाओं को पूरा करने में अपने जीवन का अन्तिम सत्य मान लिया है क्यों कि उसमें परम सत्य के प्रति जिज्ञासा में न तो उसकी रुचि रही और न ही उसका साधारणता से ऊपर उठने का स्वार्थ रहा और न ही उसमें चरित्रबल के प्रति श्रद्धावान रहा है। ऐसे में यह कहना ब्राह्मण को उचित ही होगा कि ब्राह्मण ब्राह्मणत्व को न प्राप्त कर एक साधारण मनुष्य बन गया जिसमें सामान्य मनुष्य की भांति कमियां और कमज़ोरियां रही हैं।

"ब्राह्मण के लिये यह आदर्श था वह अत्यन्त निरीह भाव गरीबी की ज़िंदगी में रहेः परन्तु ऊंचे से ऊंचा ज्ञान और चरित्र बल रखे"[11] । इस का और स्पष्ट उदाहरण हमें वेदों की ईक्कीस ऋषिकायें, महीदास ऐतरेय, उपनिषद साहित्य में रैक्क, सत्यकाम जाबाल आदि के रूप में मिलता है जो अपने सत्य का साक्षात्कार करने के बाद हर समय तत्त्व चिन्तन में लीन हैं। उनके लिये अर्थ का महत्त्व केवल भरण और पोषण तक ही सीमित है और वे अर्थ विषयक व्यक्ति को शूद्र कहते हैं। वैसे भी वेदों में दो या तीन वर्णो का ही वर्णन मिलता है और मनुस्मृति इन्ही संदर्भो में स्पष्टतया "जन्मनः जायते शूद्रः, संस्कांरत् द्विजं उच्यते" कह कर ब्राह्मणत्व का संधान करते हैं। मध्यकालीन धर्म साधना में अष्टछाप के कवि,कबीर, रविदास आदि कतिपय व्यक्ति अपने मनुष्य जीवन के इस रहस्य को जानते और समझते थे इस को अपने आचरण में लाने के फ़लस्वरूप उत्तम कोटि के शूद्र थे। उन्होंने न केवल सत्य को जाना अपितु सत्य को परखा, समझा और अपने वचन और आचरण में उस सत्य को लाने का प्रयास किया। कबीर का मनुष्य जन्म के संबंध मे यह वचन आज भी सत्य है जब वे मनुष्य जन्म को अनमोल बताते हुऐ मनुष्यत्व की बात करते हैं और ब्राह्मण और वैष्णव को एक ही बताते हैं [12]। अत: दलित के संदर्भो में शूद्र को अंकित करना उचित नहीं है।

आचार्य द्विवेदी भारतीय जातियों के इतिहास के अध्येता रिज़्वी को उद्धत करते हुऐ कहते है कि मध्यकालीन भारत में विदेशी आक्रमणकारियों के आने से पहले की जाति व्यवस्था का अनुशीलन करने पर अत्यधिक विचित्र तथ्य प्राप्त होते हैं। तत्कालीन समाज में जाति व्यवस्था एऽसी सुदृढ. नही थी। सराक जाति कपडा बुनने वाले पेशे से जुडे हैं परन्तु वे जैन श्रावकों का परिवर्तित रूप है[13] । मध्यप्रदेश में कुछ बनिया जातियों के पूर्वज मूलत: राजपूत थे। आर्थिक उन्नति के कारण शूद्र का दर्जा बढ. कर वैश्य का दर्जा बन गया ।[14] इसी क्रम में वे जुलाहा इत्यादि निम्न जातियों का उद्धरण देते हुए इस बात को प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि तांती जब उत्तम श्रेणी के हुए, तो बंगाल में उन्हें कायस्थों के समान मान लिया गया ।[15] आचार्य द्विवेदी इन्ही संदर्भो में आचार्य क्षितिमोहन सेन की पुस्तक "भारतवर्ष में जाति-भेद" का उल्लेख करते हुऐ भारतीय समाज के संबंध में बताते हैं कि भारतीय समाज की मूल आर्य-जाति में ब्राह्मण] क्षत्रिय और वैश्य] केवल तीन ही स्तर थे ।[16] अर्थात वैदिक संस्कृति में शूद्रों का हमें कही पर भी वर्णन नहीं मिलता। वे इन्ही संदर्भो में आगे कहते है "इतिहास में इस बात के कई सबूत हैं कि आर्थिक स्थिति अच्छी होते ही कई जातियां ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बन गयीं। आर्थिक विषमता के चलते कई जातियां दो भागों में बंट गयी। सम्पन्न श्रेणी को ऊंची जाति मान लिया गया एवं असम्पन्न श्रेणी को निचली जाति मान लिया गया"[17] । कहने का अर्थ है कि भारतीय समाज में जो वैषम्य आया है उसका आधार आर्थिक ही रहा जो आगे चल कर रूढिग्रस्त हो गया और जाति.व्यवस्था का आधार बना । ये प्रथाऐं आज भी समाज में विद्यमान हैं। मध्यकाल में अनेक विचारकों ने इस ऊंच.नीच के भेद को समाप्त करने का प्रयत्न किया जिस के मूल में यह तर्क था कि यदि सभी मानव ईश्वरीय रचना हैं और सभी ईश्वर की संतान हैं तो सभी बराबर हैं। कबीर नानक रविदास आदि ने अपने संपूर्ण साहित्य के माध्यम से यही बात कहने का प्रयत्न किया और किसी हद तक वे अपनी बात को समाज के सामने रख सकेए परन्तु कारणवश वे सभी इन आन्दोलनों में पूर्णतः सफ़ल नहीं हो सके। इसके विपरीत संपूर्ण समाज अलग अलग भागों में बंट गया और सभी विभिन्न् व्यवस्थाओं के अनुयायी बन गये और अलग संप्रदाय के नाम पर एक जाति बना ली. दक्षिण के लिङ्गायत, नाथ वैष्णव आदि इसी व्यवस्था का परिणाम हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस भारतीय उपमहाद्वीप में सबसे प्राचीन जो विश्वास, मान्यताऐं और साहित्य रहा वह आर्य.जाति का ही है एवं तत्पश्चात विदेशी जनजातियों के आक्रमण के कारण आर्यो के धार्मिक विश्वास को किसी अंश तक स्वीकार किया गया एवं इसी प्रकार कुछ ने उसे दूर तक प्रभावित किया। इसी कारणवश भारतीय संस्कृति अपने समस्त रूप में पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं हो सकी। अतः प्रत्येक जाति, संप्रदाय, मत आदि के अपने विश्वास रहे, अपनी मान्यताऐं रहीं जो आर्यों को किसी अंश तक प्रभावित कर सकीं। पुराना साहित्य एवं इतिहास साक्षी है कि मुसलमानों के आगमन से पहले यह मर्यादा उतनी दुर्लंघ्य नहीं बनी थीं जितनी बाद में हो गयी थी[18] । इतिहास में हमें इस बात के संकेत मिलते हैं कि मलेच्छ और यवन जातियां भी भारत वर्ष में ब्राह्मण की तरह पूज्य मानी गयी थीं।

मलेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यकशास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यते किं पुनर्दैवविद द्विज: ।। [19]

इसका संभव कारण,यदि ध्यान से देखे तो यह स्पष्ट होता है कि विदेशी जातियों की ज्ञान के प्रति उतनी ही प्रबल अभिरुचि थी जितनी यहां के ब्राह्मणों में। परन्तु धीरे धीरे यह व्यवस्था विदेशी आक्रमणकारियों के प्रभाव के कारण इतनी सुदृढ. हो गयी कि इसको

तत्कालीन समाज ने अन्तिम सत्य मान लिया यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि समस्त हिन्दू जाति मध्यकाल तक पेशे के अनुसार विभिन्न जातियों में बटीं हुई है । तत्कालीन समाज मे इसके पीछे एक प्रमुख कारण जाति व्यवस्था को पेशे और अर्थ व्यवस्था जोडे. जाना है जिस के कारण इस समस्या ने अति विकराल रूप ले लिया। " पेशा धर्म तभी कहा जा सकता है जब उसमें व्यक्तिगत लाभट्टहानि की अपेक्षा सामाजिक मंगल का भाव प्रधान रहता है"[20] । अपनी इस सोच के कारण भारतीय समाज जहां एक और पिछडा वही दूसरी ओर यह दलगत समस्या और विकट हो गयी। मध्यकाल तक आते आते यह संपूर्ण व्यवस्था इतनी बुरी तरह से रूढिग्रस्त एवं चरमरा गयी कि समाज में योनिगत ब्राह्मण को ही ब्राह्मण मान लिया गया यद्यपि इसके अन्य अनेक कारण भी थे। "एक तरफ़ तो जाति व्यवस्था ने पेशे को धर्म के साथ संबद्ध कर दिया और दूसरी तरफ़ विभिन्न पेशों के सम्मान में भी ऊंच-नीच की व्यवस्था बांध दी"[21] । इसके अतिरिक्त राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से भी जातियों की मर्यादाऐं घटी अथवा बढीं। राजकीय शक्ति पाने के बाद छोटी जातियां भी उत्तम क्षत्रिय मान ली गयी अथवा आर्थिक उन्नति के कारण उन्हें वैश्य मान लिया गया ।[22] परन्तु यहां यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि उच्चतर आध्यात्मिक क्षेत्र में कहीं भी मत द्वैध अथवा जातिगत विद्वेष की भावना नहीं रही एवं जहां तक धार्मिक रूढियों का प्रश्न आता है वे केवल मानव के बाह्याचार तक ही सीमित रहीं। यद्यपि भारतीय मनीषा में वे सभी तत्त्व विद्यमान अभी तक विद्यमान हैं जो भारतीय संस्कृति को उच्चतर भाव के लिये प्रेरित कर सकने में समर्थ हैं पर नाना कारणों के चलते हुए प्रत्येक व्यक्ति समाज के सामान्य धरातल पर नहीं आ सका है और इसी कारण सामाजिक विषमता बढती गई है। यहां यह कहना एक आवश्यकता सी ही जान पडती है कि आचार्य द्विवेदी जिस मर्यादा की बात करते हैं उस का मूल उत्स क्या है और उस का प्रभाव क्या रहा हैए यहां यह जानना नितांत समीचीन होगा। वस्तुतरू यह तो निश्चित ही है कि वे संस्कृत भाषा के सम्यक ज्ञाता थे और साहित्य के मर्मद्रष्टा रहें। उनकी विचारधारा पर संस्कृत साहित्य का व्यापक प्रभाव था - विशेषकर महाभारत एवं कालिदास का। उनका महाभारत के इस कथन पर विश्वास था.

चतुर्वेदोऽपि दुर्वतः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ।। [23]

जैसा कि डाण् शम्भूनाथ सिंह का मानना है कि "आचार्य द्विवेदी की विचारधारा आत्मगत एवं पूर्वाग्रह युक्त नहीं है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आधार पर, उसे प्रमाणों और उदाहरणों से पुष्ट किया है"[24] । आचार्य द्विवेदी के अनुसार संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोतम परिणिति है। धर्म के समान वह भी अविरोधी वस्तु है ।[25] अतः भारतीय उपमहाद्वीप में रहने वाले समस्त जन.जातियों की विविध साधनाओं को ही भारतीय संस्कृति के नाम से अभिहित किया जा सकता है। आचार्य द्विवेदी की मान्यता है कि भारतीय धर्म.व्यवस्था में जो कर्मफल का सिद्धान्त रहा और दूसरी ओर व्यवसाय के आधार पर स्तर भेद को सनातन कर देने की बलवती इच्छा रही, उसने समाज में मंगल की अपेक्षा हानि अधिक हुई है।

इसी के कारण परन्तु धीरे धीरे यह व्यवस्था विदेशी आक्रमणकारियों के प्रभाव के कारण इतनी सुदृढण् हो गयी कि इसको तत्कालीन समाज ने अन्तिम सत्य मान लिया। मध्यकाल तक आते आते यह संपूर्ण व्यवस्था इतनी बुरी तरह से रूढिग्रस्त एवं चरमरा गयी। आधुनिक भारत के प्रज्ञा.पुरुषों ने इस समस्या का हल खोजने की बजाय आरक्षण की राजनीति में अपनी चरम अभिव्यक्ति पानी चाही। अतरू संपूर्ण भारत वर्ष वर्ग.वाद के भवंर में फ़ंस कर रह गया है। यह भी एक निश्चित तथ्य है कि हमारे आधुनिक लोक.व्यवहार का केन्द्र बदला नहीं गया है जिसके परिणामस्वरूप यह व्यवस्था अपने अत्यन्त विकट रूप में हमारे सामने आयी हैं।
यहां यह कहना अधिक समीचीन होगा कि उपरोक्तानुसार हिन्दुओं का चतुर्थ वर्ण अर्थात केवल शूद्र को दलित कहना समीचीन नहीं होगा। अतः दलित वर्ग का अर्थ इन्हीं संदर्भों में यह हो सकता है कि यह एक ऐसा वर्ग हैं जिसे समाज ने कारणवश उपेक्षित किया। इसमें केवल शूद्र ही नहीं अपितु वे व्यक्ति शामिल थे अथवा रहे हैं जिन्हें समस्त समाज ने अधिकारच्युत कर दिया चाहे इसके कारण कुछ भी हो। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जहां लोभवश, मदान्धतावश मनुषों ने ही मनुष्यता के नाम पर मानवजाति का दमन किया। महाभारत में द्रुपद द्रोण के यह बात अपने आप ही सुस्पष्ट हो जाती है। गान्धी का दक्षिण अफ़्रीका में अकारण ही किया अपमान गान्धी को दलित बनाता है। स्वतन्त्रतापूर्व भारत को यदि हम देखें तो वर्ग विशेषए के अतिरिक्त संपूर्ण भारत पद.दलन का शिकार था। भारत के गांवों के लगभग प्रत्येक वर्ग विदेशियों की लोभपूर्ण नीतियों के कारण दमन हुआ फ़िर चाहे वह भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम ही क्यों न हो। दलित वर्ग केवल भारत में ही नही उपस्थित अपितु संपूर्ण विश्व में विद्यमान है। अफ़्रीकी देशों में यह शोषण की परम्परा विशेषतया देखने को मिलती रही है। अमेरिका में रेड इंडियन जाति एवं बुशमैन जाति का अस्तित्व ही खतरे में रहा । अतः कहने की बात नहीं कि मनुष्य ने मनुष्य का अमानवीय ढंग से शोषण किया । अतरू "जैसे ही उस वर्ग में ज़रा सी चेतना आईए उसके विद्रोह का विस्फ़ोट हुआए उसका परिणाम हुआ दलित

साहित्य"[26] । अतः कहने की आवश्यकता नहीं कि दलित का अर्थ संभवतः साधनहीनता की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति, समूह विद्यमान हैं।

शरण कुमार लिम्बाले का यह मानना है कि "दलित साहित्य, अपना केन्द्र बिन्दु मनुष्य को मानता है। दलित वेदना ही दलित साहित्य की जन्मदात्री है। वास्तव में यह बहिष्कृत समाज की वेदना है "[27] । अतः आधुनिक दलित चेतना का मूल उद्देश्य केवल वर्गगत समानता है और कहीं न कहीं यह माक्र्सवादी चिन्तन पद्धति से प्रभावित है जिसका मूल मन्त्र है . जातिगत समानता. अर्थात समस्त मनुष्य जाति एक है और कहीं भी क्रमिक भेदभाव नहीं होना चाहिये। यहां यह कहना उचित ही है कि भारत में "दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत बाबा साहेब अम्बेदकर का चिन्तन है''28 । यद्यपि दलित विमर्श कोई आन्दोलन विशेष नहीं अपितू यह एक प्रतिक्रिया मात्र है उन सवर्णों के विरुद्ध जिन्हे समाज में रहते हुऐ भी दलितों का दुख दर्द समझ नहीं आता है। इतिहास साक्षी है कि दलित वर्ग के लिये पुस्तक जौर अन्य धार्मिक क्रियाऐं निषिद्ध रहीं और अभी भी कमोबेश निषिद्ध के समान हीं हैं क्योंकि वे अमानवीयता का शिकार हैं । आधुनिक स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलित शब्द की लोक प्रियता का इतिहास कई साल पुराना है। आरंभ में यह शब्द अछूतों तक ही सीमित रहा। अधिकांशतः ये अछूत अपने को हरिजन कहलाना अधिक नहीं पसन्द करते हैं यद्यपि वे अपने को दलित के नाम से अभिहित करवाना अधिक पसन्द करते हैं। इस के विरुद्ध उठता हुआ विरोध का स्वर ही अब आन्दोलन का स्वरूप ले चुका है और यहां यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इस विरोध का कारण कहीं न कहीं हम महाभारत के उस संदेश को भूल चुके हैं जो मनुष्य मात्र को "पुमान् पुमान्तम् रक्षितः" अर्थात मनुष्य की रक्षा की जानी चाहिये क्योंकि "नहि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं ही किंचित " अर्थात मनुष्य से बढकर इस संसार में कुछ भी नहीं है। परन्तु यहां मूल प्रश्न हमारे सामने जो आता है वह यह है दलित वर्ग ने क्या अपनी सोच को बदला? कितने दलित समाज के कितने व्यक्ति बाबा साहेब अम्बेडकर अथवा ज्योतिबा फ़ूले के समान अपना अलग व्यक्तित्व एवं सोच रखते हैं यद्यपि मानव समूह में शोषण के विषय में सभी जानते हैं।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे दीप्त स्तंभ के रूप में नज़र आते है जिन्होंने भारतीय चिन्तन को एक नयी दिशा देने के प्रयास के साथ-साथ ही उसे एक नये रूप में अभिव्यक्त करने का भी प्रयास किया। अपनी इसी नयी चेतना को उन्होंने अपने समस्त ललित निबंध साहित्य एवं उपन्यास साहित्य में परिलक्षित करने का प्रयास किया एवं मनुष्य को सही अर्थों मे मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया जो आगे चल कर हिन्दी साहित्य में "मानवतावाद " के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की इस मानवतावादी विचारधारा के पीछे उनकी जो सोच-समझ रही, जो भारतीय विचार एवं चिंतन की परम्परा का परिशीलन रहा,वह उनके संस्कृत बोध एवं विचारधारा को परिलक्षित करता हुआ यह स्पष्ट करता है कि आचार्य द्विवेदी समस्त भारतीय संस्कृति के रूढियों से मुक्त हुए उसे पुनर्व्याखायित करने के लालायित थे। उनकी इसी रचनाधर्मिता को शिरोधार्य करते हुए साहित्यकोशकारों ने इन्हें "शीर्ष-स्थानीय" रूप में प्रतिष्ठा दी।[29] वस्तुतः आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व जहां एक ओर वैचारिक सादगी, सरलता एवं पवित्रता से ओतप्रोत रहा, वहीं दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व एवं साहित्य में कारयित्री प्रतिभा एवं भावयित्री प्रतिभा का एक ऐसा सामञ्जस्य दिखाई पडता है जो प्राचीन को नवीन संदर्भों में व्याख्यायित करने में उत्सुक दिखाई पडता है। इस का कारण यह हो सकता है" वे केवल हिन्दी साहित्य के ही चिन्तक या स्रष्टा न थे अपितु उससे बृहत्तर वे बहुत कुछ थे। उनकी विशेषता इस बात में थी कि वे संस्कृत के आश्रम में रमते हुए हिन्दी साहित्य की वाटिका में आ निकले ।"[30] अपनी इसी विचारधारा को परिलक्षित कर डा. शिवनाथ अपने एक लेख में कहते हैं "भारतीय वाड्.मय में उनकी पैठ की गहनता,परिपक्कता, उच्चता,सूझ-बूझ और विस्तृति से जो परिचित हैं वे कबूल करेंगें कि उनका स्थान भारतीय स्तर के विद्वानों में हैं"[31] । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की इसी प्रतिभा के विषय में डा. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं " समीक्षकों का सर्व-सम्मत कथन है कि मूल्यों के संक्रमण के युग में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने भारत की हज़ारों साल पुरानी परम्परा को आत्मसात कर,अतीत के उज्वल इतिहास को समझ कर और वर्तमान युग के जीवन्त बोध को पचा कर जो कुछ लिखा,वह साहित्य के निकष पर कालजयी ठहरता है"[32]। साहित्य जीवन से ही उत्पन्न हो कर जीवन के विविध आयामों में उसे आकलित करता हुआ चलता है। आचार्य द्विवेदी, संभवत:,इस साहित्यिक तथ्य से पूर्णतया वाकिफ़ थे और शायद इसीलिये उन्होंने अपने साहित्य-सृजन की आधार-शिला में कहीं न कहीं इस तथ्य को संजोये रखा। संस्कृत विषयक गूढ-ज्ञान, अग्रेज़ी, हिन्दी, बांग्ला,मानविकी शास्त्र आदि भाषाओं एवं विभिन्न विषयों का सटीक एवं सम्यक ज्ञान वस्तुत: उनकी प्रतिभा का आधारभूत स्रोत रहा जिसके आधार पर उन्होंने धर्मग्रन्थों की शास्त्रीय परम्परा को पहचाना और उससे भिन्न चल रही अन्य लोक परम्परा का भी अनुशीलन किया जो प्रकान्तर से शास्त्रीय परम्परा का ही अनुमोदन कर रही थी।

आचार्य द्विवेदी धर्म विषयक अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुऐ महाभारत की उस परम्परा का ही अनुमोदन करते हैं जो --

"धर्मो यो बाधते धर्म न स धर्म कुधर्म तत्।

अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिसत्तम ।।" [33]

मनुष्यता को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हैं। उनके अनुसार सच्चा धर्म तो अविरोधी तत्त्व है क्योंकि जहां विरोध होता है वहां धर्म अपने आप में पूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः कहने की आवश्यक्ता नहीं कि विभिन्न उपासना पद्धतियों में जो तत्त्व अविरोधी है वही आचार्य् द्विवेदी का अभिप्रेत है। अपने इन विचारों को उन्होंने शताधिक निबंधों, शोधपरक ग्रन्थों, चारों उपन्यासों, इतिहास लेखन आदि के माध्यम से प्रस्तुत एवं अभिव्यक्त करने का प्रयास किया और यदि उन के विचारों का संकलन किया जाये तो निश्चित तोर पर एक ऐसा प्रामाणिक ग्रंथ सामने आयेगा जो संस्कृति की नवीन व्याख्या करने में सक्षम होगा, पर फ़िर भी, यहां उनकी संस्कृति विषयक अवधारणा को स्पष्ट करना एक आवश्यकता बन जाती है। वे इस विषय में अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं "मनुष्य की श्रेष्ठतम साधनाऐं ही संस्कृति हैं"[34] ।

अतः यहां यह कहना उचित ही होगा कि आचार्य द्विवेदी के अनुसार संपूर्ण संसार के मानवों की मात्र एक ही संस्कृति हो सकती है । इसीलिये संसार की प्रत्येक जाति अपनी साधना द्वारा कहीं न कहीं, उस अविरोधी सत्य का साक्षात्कार करते हुए उसको अपनाती चलती है। "अतः मनुष्य की श्रेष्ठतर मान्यताऐं केवल अनुभूत हो कर ही अपनी महिमा को सूचित करती है"[35] अर्थात वे सभी साधनाऐं जीवन के किसी परिप्रेक्ष्य में हों, वे सभी साधनाऐं स्वयं को प्रत्यक्ष करती हुई जीवन को श्रेष्ठतर बनाती हुई जीवन को सफ़ल बनाने का प्रयास करती है। आचार्य द्विवेदी इन्ही संदर्भों में कहते है "मनुष्य ने उसे अभी तक संपूर्ण पाया नहीं हैः पर उसे पाने के लिये व्यग्र भाव से उद्योग कर रहा है"[36] । कहने की आवश्यकता नहीं कि मानव धर्म अभी तक अपनी संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं पा सका है। वह जो अभी तक शेष है, उसकी प्राप्ति ही समस्त मानवीय संस्कृति का अभिप्रेत है। निश्चित रूप से वह तत्त्व मनुष्य की मनुष्य के प्रति दमनकारी नीतियों का विरोध करता है। अतः "यह मार.काट, नोच खसोट और झगडा टंटा भी उसी प्रयत्न का अंग है"[37]। यह बात तो निश्चित ही है कि यह मार-काट शोषणगत नीतियां उस मानवीयता का ही परिपूरक है जो अपने आप में असाधारण सत्य है। वह इस असाधारण सत्य को खोजने का लगातार प्रयास कर रहा है। अतः "रास्ता खोजते समय भटक जाना, थक जाना, झुंझला जाना इस बात का सबूत नहीं है कि रास्ता खोजने की इच्छा ही नहीं है।"[38] अपने इसी ऊज्वल पक्ष को आचार्य द्विवेदी अग्रसर करते हुऐ कहते है "ये युद्ध विग्रह, ये कूट.नीतिक दांव.पेंच, ये दमन और शोषण के साधन, ये सब एक दिन समाप्त हो जांएगे ।

मनुष्य दिन.दिन अपने महान लक्ष्य के नज़दीक पहुंचता जायेगा। सामान्य मानव संस्कृति ऐसा ही दुर्लभ लक्ष्य है।"[39] कहने का अर्थ केवल इतना है कि समस्त प्रकार की धर्म साधनाऐं , व्यक्तिगत साधनाऐं, सामाजिक साधनाऐं केवल एक ही लक्ष्य को लेकर चली हैं वह है मनुष्य की संस्कृति। यह मानव संस्कृति एक मानव को दूसरे मानव से, सुख हो अथवा दुःख हो, प्रत्येक समय में आपस में जोडे रखती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य का श्रेष्ठ कर्म मानव को मानवीय बनाना है। अतः उपनिषदों में "आत्मानम् विद्धि" के माध्यम से भी यही बात कही गयी है। इस का कारण यह हो सकता है कि "श्रेष्ठ लक्ष्य परस्पर विरोधी नहीं होता"[40] । अर्थात संपूर्ण सत्य ही तो वह धर्म है जो समस्त साधनाओं में बाधक नहीं बनता। आचार्य द्विवेदी का मानना है "सच्चा धर्म अविरोधी तत्व है"[41] । समस्त धर्मशास्त्रों का निचोड् यही है कि यदि मनुष्य मनुष्य नहीं बनता अथवा मनुष्यता के मार्ग पर अग्रसर नहीं होता तो समस्त धर्म सूत्र अथवा धर्मशास्त्र एवं उनका पठन पाठन, अध्ययन अध्यापन, सब कुछ बेकार है क्योंकि ऐसी स्थिति में मनुष्य मनुष्यता की ओर अग्रसर नहीं होता और वह समाज के लिये श्रेयस्कारी नहीं कहा सकता है। इसीलिये आचार्य द्विवेदी कहते है "सारे प्रतीयमान विरोधों का सामञ्जस्य एक ही बात से होगा.. मनुष्य का हित"[42] । कहने का अर्थ है कि सत्य वह नहीं है जो हमें बताया जा रहा है अथवा जो हमें समझाया जाता रहा है अपितु "सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यंतिक कल्याण के किया जाता है"[43] । महाभारत में शुकदेव को नारद सत्य का स्वरूप समझाते हुए कहते है-

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितम वदेत् ।
यद् भूतहितमत्यंतमेतत् सत्यं मतं मम् ।।

अर्थात सत्य वह है जिस के द्वारा प्रत्येक प्राणी का कल्याण होता हो।

हिंदी साहित्य के जहां प्रमुख कथाकार प्रेमचन्द और जय शंकर प्रसाद आदि कथाकारों ने बहुधा में ही अपनी विभिन्न कथाओं के माध्यम से मनुष्य में छिपी हुई पशुता को उजागर करने का प्रयास किया है वही आचार्य द्विवेदी ने अपने ललित निबंधों के माध्यम से सीधे तौर पर यही बात कही है।

वस्तुतः द्विवेदी जी ने अपने समस्त साहित्य के माध्यम से उन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की पुनव्र्याख्या करने का प्रयास किया जिन्हें,उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में अनुभव किया, समझा और अपने जीवन में उतारने का प्रयास किया। द्विवेदी जी ने महाभारत की उस परम्परा का अनुकरण किया जो उस ज्ञान की परम्परा को पवित्र मानता हुआ मनुष्य को संवेदनशील बनाता है."नहि ज्ञानान्पवित्रमिह वर्तते"। इस परम्परा पर आचरण करना ही उन्होंने अपना धर्म समझा अपने निबंध "भारतीय संस्कृति की देन" नामक निबंध में उनका मानना है "वह(आचरण) मनुष्य के सर्वोतम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है, उतने ही अंश में सार्थक एवं महान है"44 । बात नारायणीय धर्म की ही है जो मानव को मानव बनाने का प्रयत्न करता है अर्थात मानव की इस विश्व में रक्षा करने वाला केवल मानव ही है। इसी दृष्टि को आचार्य द्विवेदी साहित्यिक क्षेत्र में अग्रसर करते हुए वे अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहते है "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखापेक्षिता से न बचा सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता हैं...

साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है"[45] । अतः ऐसी स्थिति में मनुष्य परस्पर विभेद, शोषण को महत्व नहीं देता अपितु वह संयमित रह कर ज्ञानपूर्वक जीवन यापन करता है। यह बात तो निश्चित है कि मानव सूचनात्मक ज्ञान के आधार पर अमने संपूर्ण सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। आपसी वैमनस्य, कलह आदि को प्रतिपादित कर "जो लोग भेद.भाव को पकड कर ही अपना रास्ता निकालना चाहते है, वे गलती करते हैं"[46] । अतरू सत्य का पूर्ण संदर्भ है "हमें नए सिरे से सब कुछ गढना है, तोडना नहीं है, टूटे को जोडना है। दूसरों की नकल करके हम अपना हित नहीं कर सकते"[47] । वास्तविक एवं श्रेष्ठ साहित्य वही हो सकता है जो मानव को समस्त मानव जाति के प्रति स्पंदित करता हुआ मानव.मात्र के कल्याण के लिये अग्रसर होता है। इसीलिये उनका यह तर्क सर्वमान्य है कि "पोथियों की संख्या बढाना या ज्ञान की दुकान चलाना साहित्य का लक्ष्य नहीं है।मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तिवक लक्ष्य है"[48]। अतः जो साहित्य मानव को मानव से अलग करता है, जो साहित्य मानव में भेद-बुद्धि पैदा करता है वह श्रेष्ठ साहित्य नहीं हो सकता है।

आचार्य द्विवेदी संस्कृति को देश-काल, जाति, धर्म, संप्रदाय तक सीमित न रखते हुए उसे मानव में मानवता के विकास की सरणि मानते हैं। आचार्य द्विवेदी इन्हीं सदर्भों में कहते हैं "भारत वर्ष क्या है? हमें इस बात को अच्छी तरह से जान लेना चाहिये कि भारतवर्ष उन करोडों दलित और मूक जनता से अभिन्न है जिन्हें छूने से भी पाप का अनुभव किया जाता है"[49] । अर्थात समस्त भारत की जनता केवल धर्मशास्त्रों के आधार पर चला हो अथवा मनुस्मृति आदि प्रभृति ग्रन्थों ने ही केवल मार्गदर्शन किया हो, यह बात आचार्य द्विवेदी को अस्वीकार्य है। वे, इन्हीं सन्दर्भों में अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं कि भारत में एक ऐसी लोक-परम्परा भी रही है जो सर्वथा शास्त्र के अनुकूल नहीं रही, जिसे उच्च-वर्गीय ग्रंथों ने कभी भी शासित नहीं किया एवं जिसमें समस्त निम्न-वर्गीय जातियां सम्मिलित रहीं।
आचार्य द्विवेदी ने इनको चार भागों में बांटा.

- वे जातियां जिन्हें देखने मात्र से ही अन्न अग्राह्य एवं शरीर अपवित्र हो जाता था।
- वे जातियां जिन्हें स्पर्श करके शरीर एवं अन्न अग्राह्य हो जाता था।
- वे जातियां जिनके स्पर्श से शारीरिक अपवित्रता तो नहीं होती थी परन्तु जल आदि अपवित्र हो जाते थे।
- वे जातियां जो स्पर्श के माध्यम से पक्क अन्नादि को अपवित्र करने में असमर्थ थी परन्तु कच्ची रसोई आदि उनके संपर्क में आते ही अपवित्र हो जाती थी ।[50]

अतः कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिस भारत की बात हम अपने साहित्य के माध्यम से करते हैं उसमें ये चारों प्रकार की जातियां सम्मिलित हैं। इस संदर्भ में भारत का जयगान करने का अर्थ "इन तहों को नष्ट कर देने का संकल्प"[51] है। मध्यकालीन भारत में कबीर, रविदास, नामदेव आदि भक्त कवियों ने अपने समस्त साहित्य के माध्यम से यही तहें नष्ट करने का प्रयास किया था क्योंकि वे मनुष्य में

मनुष्यता को अग्रसर करना चाहते थे क्योंकि उस समय भी सम्पूर्ण भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में, जातियों में, उपजातियों में आदि में बंटा हुआ है। मध्यकालीन

भारतीय समाज का अध्ययन करने पर जो तथ्य हमारे सामने आते हैं उसके पीछे तार्किकता कम एवं स्थितिशीलता अधिक लगती है। इसका कारण यह हो सकता है कि समाज में वर्ण.व्यवस्था एवं कर्म.व्यवस्था अनादि-काल से ऐसे ही चलती आ रही है और वह वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज में ऐसी स्थायी हो कर रह गयी है जिस ने मानव एवं मानव में अन्तर पैदा कर दिया एवं मानव मानव से दूर हो गया। भारतीय इतिहास में आचार्य द्विवेदी कई ऐसे प्रमाण मानते हैं जिन्होंने भारतीय समाज में इस वर्ण व्यवस्था को सुदृढ करने का प्रयास किया "फ़िर चाहे उसके पीछे व्यक्तिगत कारण रहें हों"[52]।

आचार्य द्विवेदी का मानना है कि कई व्यक्ति इन निम्न जातियों को जनेऊ पहनाने अथवा वेद पढा कर जाति का उद्धार मानते है परन्तु केवल वेद का पठन पाठन अथवा जनेऊ पहनाना इन समस्याओं का हल नहीं है। यदि कहीं हल कहीं है तो वह निश्चित रूप में केवल जन-जागृति ही है। जिस दिन जन.जागृति आयेगी उस समय उच्च मर्यादा वाले निम्न जातियों का उद्धार की बात नहीं करेंगें अपितु वे मर्यादा को ही इतना उंचा बनाएगे जो सभी को अपने में सहज ही समेट सके। आचार्य द्विवेदी समस्त मानव जाति के मंगल की कामना करते हैं और अपने समस्त साहित्य का आधार मानव.मात्र के उस सत्य को बनाते हैं जो कालाबाधित नहीं, जो खण्डित नहीं और जो अविरोधी है। आचार्य द्विवेदी के मत में संप्रदाय स्थापना का अर्थ है मोलिक चिन्तन की कमी। अतरू जहां भी संप्रदाय स्थापना की बात आती है वहां मानव की दृष्टि में सत्य गोण जाता है और मानव संपूर्ण एवं महत् सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता। इसका संभवतः कारण यह हो सकता है कि "सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बडा ही ज़बरदस्त सिद्ध हुआ है। उसने ज्ञान, सत्य, भक्ति वैराग्य को बुरी तरह से दबोच लिया"[53]। अतः इतिहास का अर्थ व्यक्त करते हुए वे कहते हैं

"इतिहास का साहित्य कुछ बडे व्यक्तियो के उदभव और विलय के लेखे जोखे का नाम नही है। वह जीवन-मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है।"[54] अर्थात इतिहास यदि मानव को मानव नहीं बनाता है, उसके सारभूत जीवन का वर्णन नहीं करता तो वह इतिहास के नाम पर जो कुछ भी हो, वह किसी भी शिक्षित जाति या वर्ग का इतिहास नहीं हो सकता है। अतः आचार्य द्विवेदी अपनी इसी सारभूत दृष्टि के विषय में कहते हैं "मनुष्य में जो मनुष्यता है, जो उसे पशुता से अलग करती है, वही आराध्य है। क्या साहित्य, और क्या राजनीति, सबका एक मात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है"[55]।

आचार्य द्विवेदी का मानना है कि संस्कृत का साहित्य एक उच्च गिरिश्रंग है जिस पर भारतीय मानव अपने इतिहास को देख सकता है। उस में मनुष्य के उत्थान और पतन के अनेक ऐसे सुस्पष्ट चिन्ह हैं जो विभिन्न साम्राज्यों के बारे में विषय में बताते हैं कि अमुक समय में यह साम्राज्य स्थापित हुआ और तत्पश्चात समय पाकर वह विलोप हो गया। परन्तु अन्त में जो बचा रहा वह था केवल मानव। शताब्दियों से चल रहा यह मानव कहीं भी स्थगित नहीं हुआ है क्योंकि ज्ञानपूर्वक अग्रसर होना मानवीय नीति और धर्म है। मनुष्य क्षुब्ध हो कर कुछ काल के लिये कहीं ठहर सकता है परन्तु ज्ञान हो जाने पर वह पुनः अग्रसर होता है क्योंकि ज्ञान ही वह प्रेरक वस्तु है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है। ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु और कोई नहीं है। अतः साहित्य का अर्थ है "मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना"[56] और मनुष्य को "मनुष्य बनाने वाला ज्ञान ही बडी वस्तु है"[57]। अतः ज्ञान वही सार्थक एवं सफ़ल है जिससे समूची मानवता लाभान्वित हो सके, जो एक जाति को दूसरी जाति से घृणा करना न सिखाए, जो एक जाति को दूसरी जाति से दूर रखने के अपेक्षा दोनों जातियो को पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी पर आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, जो मनुष्यता में वर्गवाद को प्रेरित न कर सके, सा ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।

भारत के विशाल जनसमूह का नृत्तत्त्वशास्त्रियों ने कई बार अध्ययन करने का प्रयास किया। उसके पीछे मन्तव्य केवल वैज्ञानिक कोतूहल का निवारण करना नहीं था। पर आचार्य द्विवेदी के अनुसार हमारी राजनीति, हमारी भाषा, हमारा साहित्य सबका उद्देश्य केवल यही हो सकता है कि मानव को इन दुर्गतियों से बचा कर उसे मानवता के आसन पर बैठाया जाय[58]। क्योंकि "जो साहित्य मनुष्य समाज को रोग, शोक, दारिद्रय,अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचा कर उसमें आत्म.बल का संचार करता है वह निश्चय ही समाज की अक्षय

निधि है"[59] अर्थात आज जिन्हें हम हीन जातियां समझते हैं अथवा जो व्यवस्था समाज में हमारे सामने प्रचलित है वह निश्चित ही प्राचीन भारत के अनुसार नहीं है क्योंकि जातिव्यवस्था का आधार केवल वित्त नहीं था अपितु योनि एवं कर्म भी रहा। उसका कारण सामाजिकए राजनीतिक तथा आर्थिक मुख्य रहे है जिसके परिणाम स्वरूप आधुनिक भारत में जाति.व्यवस्था रूढिग्रस्त हो गयी ।

मनुष्य में मनुष्यता का संचारण हो इस के लिये वे सत्य की महत्ता बताते हुए कहते है कि सत्य मनुष्य को पशुसुलभ धरातल से ऊपर उठा कर मनुष्यत्व में प्रतिष्ठित करता है। आचार्य द्विवेदी पुरानी रूढियों के पक्षपाती नहीं हैं परन्तु संयम एवं निष्ठा आदि पुरानी रूढियां नहीं हैं अपितु वे मानव के दीर्घ आयास से प्राप्त वे गुण हैं जो मानव के भीतर मानवता का संचरण करवाते हैं। इन के प्रति विद्रोह प्रगति नहीं। अतः "सौन्दर्य सामञ्जस्य का नाम है"। जिस संसार में छोटापन और बडाई, धनी और निर्धन, ज्ञानी और अज्ञानी, आकाश और पाताल का अन्तर हो, वह संसार सामञ्जस्यमयी नहीं कहा जा सकता और उसे सुन्दर नहीं कहा जा सकता[60] । अतः भारत में "विरुद्ध संस्कारों और विरोधी स्वार्थों की विराटा वाहिनी है। इस में पद पद पर गलत समझे जाने का अंदेशा है। प्रतिक्षण विरोधी स्वार्थों के संघर्ष में पिस जाने का डर है। संस्कारों और भावावेशों का शिकार हो जाने का अंदेशा है- परन्तु इन समस्त विरोधों, दोषों और संघातों से बडा और सब को छाप कर विराज रहा है . मनुष्य। इस मनुष्य की भलाई के लिये आप अपने आप को निश्शेष भाव से दे कर सार्थक कर सकते है। भेद और विरोध ऊपरी हैं"[61] । इसीलिये "मनुष्य एक है। उसके सुख दुरूख को समझना, उसे मनुष्यता के पवित्र आसन पर बैठाना ही हमारा कर्तव्य है"[62] । यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। कबीर, रविदास आदि ने अपने सत्साहित्य के माध्यम से समाज को मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया और किन्ही अर्थों में वे अपने इस परिश्रम में सफ़ल भी हुए ।

सहायक ग्रन्थ सूची -

- अनामदास का पोथाः अथ रैक्कोपाख्यान
- (सं) गुप्त, गणपति चन्द्रः आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदीरूव्यक्तित्व एवं साहित्य
- परिशोध
- संदेशः
- अशोक के फ़ूल
- गुप्ता रमणिकाः हिन्दी साहित्य में दलित संघर्ष के उन्नायक एन सिंहः
- कबीर बीजक
- सत्य नारायण व्यासःसमीक्षक डॉ हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
- नवनीत
- महाभारतः
- आप्टे,वामन शिव रामः संस्कृत.हिन्दी कोश
- उत्तररामचरितम्
- भामिनिविलास
- शिशुपालवधम्
- किरातार्जुनीय
- कालिका प्रसादः बृहत् हिन्दी कोश, वाराणसी
- दूबे,अभय कुमार, आधुनिकता के आईने में दलित
- महाभारत